



नदियों के निर्बाध प्रवाह की महत्ता

दुनिया में नदियों के मुक्त प्रवाह के सौंदर्य को बहाल किया जा रहा है। हम गंगा जैसी नदियों के अविरल प्रवाह की महत्ता को समझें।

डॉ. भरत झुनझुनवाला , (लेखक वरिष्ठ अर्थशास्त्री एवं आईआईएम, बंगलुरु के पूर्व प्रोफेसर हैं)

Source- Nai Duniya

माना जा रहा है कि केंद्र सरकार गंगा की छह सहायक नदियों भागीरथी, मंदाकिनी, पिंडर, नंदिकिनी, धौलीगंगा व अलकनंदा पर नई जलविद्युत परियोजनाएं नहीं बनाएगी। केंद्र सरकार को इस निर्णय के लिए साधुवाद, लेकिन इन्हीं नदियों पर निर्माणाधीन चार जलविद्युत परियोजनाओं का विषय अभी भी लटका हुआ है। कुछ समय पहले आईआईटी कानपुर के पूर्व प्रोफेसर जीडी अग्रवाल उर्फ सानंद स्वामी ने इन परियोजनाओं को बंद करने की मांग करते हुए अपना शरीर उपवास के बाद त्याग दिया था। अब उन्हीं मांगों को लेकर केरल के 26 वर्षीय युवा ब्रह्मचारी आत्मबोधानंद उपवास करते हुए तपस्या में रत हैं।

निर्माणाधीन परियोजनाओं का पहला विषय गंगा की निर्मलता का है। केंद्र सरकार ने लगभग 20,000 करोड़ खर्च कर गंगा में गिरने वाले नालों का शुद्धिकरण करने के लिए सीवेज ट्रीटमेंट प्लांट लगाने का बीड़ा उठाया है। यह कदम सही दिशा में है, परंतु आधा-अधूरा है, क्योंकि इससे हम गंगा की अपने को स्वयं शुद्ध करने की क्षमता को नष्ट कर रहे हैं। नेशनल एनवायरमेंट इंजीनियरिंग रिसर्च इंस्टीट्यूट, नागपुर ने बताया है कि गंगा के गाद में विशेष प्रकार के कलिफाज नाम के लाभप्रद कीटाणु होते हैं। ये

कलिफाज हानिप्रद कालीफार्म नामक कीटाणु को नष्ट करते हैं। अमूमन एक प्रकार का कलिफाज एक ही प्रकार के कालीफार्म को नष्ट करता है, लेकिन गंगा के विलक्षण कलिफाज कई प्रकार के कालीफार्म को एक साथ खत्म कर देते हैं। इनसे गंगा की स्वयं को शुद्ध करने की क्षमता बनती है। ये कलिफाज गाद में रहते हैं। जलविद्युत परियोजनाओं से इस गाद का बनना बाधित होता है। गंगा के पानी को परियोजनाओं द्वारा टनल या झील में डाला जाता है। पानी और पत्थर की रगड़ समाप्त हो जाती है और इस गाद का बनना बंद हो जाता है, जिससे इन कलिफाज का नष्ट होना निश्चित है। गंगा की निर्मलता हासिल करने के दो उपाय हैं। एक, सीवेज ट्रीटमेंट प्लांट लगाएं। दूसरा उपाय, निर्माणाधीन परियोजनाएं निरस्त की जाएं, गंगा की गाद बहने दें और गंगा की स्वयं को साफ रखने की क्षमता बनाए रखें। जो काम गंगा स्वयं करती है, उसे करने के लिए 20,000 करोड़ रुपए खर्च करने की क्या जरूरत है?

दूसरा विषय बहती गंगा यानी अविरल गंगा के सौंदर्य का है। उत्तराखंड सरकार का मानना है कि टिहरी जैसी झीलों का भी अपना सौंदर्य होता है। यह सही भी है। टिहरी झील में जल क्रीड़ा को बढ़ाने के प्रयास किए जा रहे हैं, लेकिन प्रश्न है कि अविरल धारा का सौंदर्य अधिक मनोरम है या झील का? भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, रुड़की द्वारा किए गए एक अध्ययन में पाया गया कि देश के नागरिकों को गंगा के अविरल प्रवाह से मिले सुख की कीमत 23,255 करोड़ रुपए प्रतिवर्ष है। मैं नहीं समझता कि टिहरी झील से इस प्रकार का लाभ देश को हो सकेगा। गंगा के बहते रहने से जो जनता को लाभ मिलता है, हमें उसका संज्ञान लेना चाहिए। विश्व स्तर पर नदियों के मुक्त प्रवाह के सौंदर्य को पुनर्स्थापित किया जा रहा है। अमेरिका के वाशिंगटन राज्य में अल्वा नदी पर एक जल विद्युत परियोजना थी। वहां के लोगों ने मांग उठाई कि वे अल्वा नदी का मुक्त बहाव पुनर्स्थापित करना चाहते हैं जिससे वे उसमें नाव चला सकें और मछली मार सकें। वाशिंगटन की सरकार ने सर्वे कराया और पाया कि लोग नदी का मुक्त बहाव बहाल करने के लिए अधिक राशि देने को तैयार थे। जबकि अल्वा डैम से बन रही बिजली इसकी तुलना में बहुत कम थी। इस आधार पर अल्वा डैम को हटा दिया गया और आज अल्वा नदी मुक्त प्रवाह से बह रही है।

देश के विकास में बिजली का महत्व है। बिजली की मांग सुबह और शाम के समय अधिक होती है। जलविद्युत परियोजनाओं से बिजली को तत्काल बनाया अथवा बंद किया जा सकता है। सुबह और शाम ज्यादा बिजली की जरूरत को पूरा करने के लिए जलविद्युत को उत्तम माना जाता है, लेकिन इसके सस्ते विकल्प उपलब्ध हैं। आज नई जलविद्युत परियोजना से उत्पन्न बिजली का मूल्य लगभग 7 से 11 रुपए प्रति यूनिट पड़ता है। इसकी तुलना में सौर ऊर्जा का मूल्य 3 से 4 रुपए प्रति यूनिट पड़ता है। दिन में बनी इस सौर ऊर्जा को सुबह और शाम की बिजली में परिवर्तित किया जा सकता है। बड़ी बैट्रियां बनाई जा सकती हैं। पानी को दिन में नीचे से ऊपर पंप करके सुबह और शाम उसे छोड़कर दोबारा बिजली बनाई जा सकती है। दिन में बनी सौर ऊर्जा को सुबह और शाम की पीकिंग पावर बनाने का खर्च मात्र 50 पैसे

प्रति यूनिट पड़ता है। अतः सौर ऊर्जा से बनी पीकिंग पावर का मूल्य चार से पांच रुपए पड़ता है, जो कि जलविद्युत से बहुत कम है।

उत्तराखंड के आर्थिक विकास का भी प्रश्न है। जलविद्युत परियोजनाओं से राज्य को 12 प्रतिशत मुफ्त बिजली मिलती है। यहां प्रश्न है कि गंगा के किन गुणों का हम उपयोग करना चाहते हैं? बिजली बनाने में हम गंगा के ऊपर से नीचे गिरने के भौतिक गुण का उपयोग करते हैं, लेकिन गंगा का इससे ऊपर मनोवैज्ञानिक गुण भी है। मैंने एक अध्ययन में पाया कि गंगा में डुबकी लगाने वाले मानते हैं कि गंगा के आशीर्वाद से उनका स्वास्थ्य ठीक हो जाता है। गंगा के इस मनोवैज्ञानिक गुण का उपयोग करके भी उत्तराखंड का विकास किया जा सकता है। गंगा के बहाव को मुक्त छोड़ दिया जाए और उसके किनारे यूनिवर्सिटी, अस्पताल और सॉफ्टवेयर पार्क स्थापित किए जाएं तो छात्रों एवं मरीजों को अधिक लाभ होगा। बड़ी संख्या में रोजगार के उत्तम अवसर भी पैदा होंगे। ज्ञात हो कि जलविद्युत परियोजनाओं के बनने के बाद इनमें मात्र 100 कर्मचारियों की ही जरूरत होती है। इस तरह अंत में रोजगार का हनन ही होता है।

निर्माणाधीन परियोजनाओं के पास सभी कानूनी स्वीकृतियां हैं। अतः इन्हें सरकार मनचाहे तरीके से बंद नहीं कर सकती, किंतु जिस प्रकार इंदिरा गांधी ने बैंकों और कोयला खदानों का राष्ट्रीयकरण किया था, उसी प्रकार इन जलविद्युत परियोजनाओं का केंद्र सरकार राष्ट्रीयकरण कर सकती है। केंद्र सरकार द्वारा 50,000 करोड़ रुपए के खर्च से ऑल वेदर रोड यानी हर मौसम में टिकने वाली सड़क बनाई जा रही है जिससे लोग गंगोत्री, केदारनाथ और बदरीनाथ के दिव्य मंदिरों का प्रसाद आसानी से प्राप्त कर सकें। वर्तमान में इन चार निर्माणाधीन जलविद्युत परियोजनाओं पर लगभग 5,000 करोड़ रुपए ही खर्च हुए हैं। देश के लोगों तक इन दिव्य मंदिरों का प्रसाद पहुंचाने का सरल एवं सस्ता उपाय है कि इन परियोजनाओं को 5,000 करोड़ रुपए देकर हटा दिया जाए। तब तीर्थयात्रियों को इन दिव्य मंदिरों का प्रसाद प्राप्त करने के लिए 50,000 करोड़ की ऑल वेदर रोड से यात्रा नहीं करनी होगी। इन मंदिरों का प्रसाद गंगा स्वयं मैदान तक पहुंचा देगी। गंगा के मुक्त बहाव के इन लाभों को हासिल करने के साथ केंद्र सरकार को उत्तराखंड को गंगा बोनस देना चाहिए, जिससे जलविद्युत परियोजनाओं के न बनाने से राज्य को किसी प्रकार की हानि न हो।

आरक्षण की भूख

संपादकीय

राजस्थान में एक बार फिर गुर्जर समुदाय पांच फीसद आरक्षण की मांग लेकर सड़कों पर उतर आया है। रेल की पटरियों पर तंबू गाड़ दिया है। जिस रेल पटरी पर उन्होंने बसेरा डाल रखा है, वह देश की व्यस्ततम रेल लाइन है। इस तरह बहुत सारी गाड़ियों का रास्ता बदलना पड़ा है और कई गाड़ियां रोक दी गई हैं। पिछले तेरह सालों में यह छठा आंदोलन है, जब राज्य सरकार को मुश्किलों का सामना करना पड़ रहा है। अब तक भाजपा सरकार को चार बार और कांग्रेस को दो बार गुर्जर आरक्षण आंदोलन का सामना करना पड़ा है। हालांकि राजस्थान सरकार ने आंदोलनकारियों से बातचीत की कोशिश की, पर कामयाबी नहीं मिल पाई। पुलिस ने रेल लाइन खुलवाने का प्रयास किया, जिसके चलते आंदोलनकारियों और पुलिस के बीच हिंसक झड़पें भी हुईं। इसके पहले भी करीब बारह साल पहले जब यह आंदोलन हिंसक हुआ था, तब करीब तीस लोगों को अपनी जान से हाथ धोना पड़ा और बड़े पैमाने पर आर्थिक नुकसान हुआ था। इसलिए सरकार की कोशिश है कि आंदोलन हिंसक रूप न लेने पाए, पर गुर्जर नेता इस बात पर अड़े हैं कि इस बार वे आरक्षण लेकर ही धरने से उठेंगे। पर मुश्किल यह है कि राज्य सरकार के लिए आरक्षण की मांग पूरी कर पाना संभव नहीं है।

पहली बार जब गुर्जर आंदोलन शुरू हुआ था, तब तत्कालीन भाजपा सरकार ने पांच फीसद आरक्षण की मांग मान ली थी, पर वह मामला अदालत में जाकर निरस्त हो गया था। क्योंकि कानूनी रूप से आरक्षण की सीमा को पचास फीसद से ऊपर नहीं रखा जा सकता। फिर जब राजस्थान में कांग्रेस की सरकार बनी तब भी आंदोलन उठा और उसने मांग मान ली, पर अदालत ने फिर उस पर रोक लगा दी। हालांकि उस समय गुर्जर समुदाय को एक फीसद का आरक्षण मिल गया। अब जब केंद्र सरकार ने सामान्य वर्ग के लिए दस फीसद आरक्षण का प्रावधान किया है, तब गुर्जर समुदाय ने अपनी मांग फिर से उठा दी है कि उन्हें बाकी का चार फीसद आरक्षण भी मिले। अब राज्य सरकार इस मसले को केंद्र के पाले में डाल रही है कि चूंकि यह मामला संविधान संशोधन का है, इसलिए वही इस मांग को पूरा करने की दिशा में कुछ कर सकती है। मगर केंद्र के लिए भी ऐसा करना संभव नहीं है। लिहाजा, इस आंदोलन का नतीजा कुछ निकलने वाला नहीं है।

दरअसल, राजनीतिक दल अपने स्वार्थ के लिए विभिन्न राज्यों में कृषक समुदाय के लोगों को आरक्षण देने का लालच देते रहे हैं। इसी का नतीजा है कि हरियाणा में जाट आरक्षण आंदोलन शुरू हुआ, गुजरात में पटेल आंदोलन पर उतरे, महाराष्ट्र में मराठा और राजस्थान में गुर्जर। ये सभी जातियां सामाजिक रूप से सबल मानी जाती हैं। सारे राजनीतिक दलों को पता है कि आरक्षण की सीमा को पचास फीसद से अधिक नहीं बढ़ाया जा सकता। संविधान में जिन समुदायों को आरक्षण मिला हुआ है, उसे कम करके दूसरे समुदायों के लोगों को उसमें हिस्सा नहीं दिया जा सकता। फिर भी जब उन्हें अपना जनाधार बढ़ाना होता है, चुनावों के समय आरक्षण का मुद्दा छेड़ देते हैं। इस तरह आरक्षण का उद्देश्य प्रश्नांकित होता

रहता है। विचित्र है कि आरक्षण की मांग करने वाले भी जानते हैं कि संविधान के तहत उनकी मांगों को पूरा करना किसी सरकार के लिए संभव नहीं है, फिर भी वे आंदोलन पर उतर आते हैं।

राजनीतिक एजेंडे में पर्यावरण क्यों नहीं

नवरोज के दुबाश प्रोफेसर, सेंटर फॉर पॉलिसी रिसर्च

भारत में पर्यावरण की हालत काफी भयावह है। इससे जुड़े आंकड़े परेशान करने वाले हैं। मसलन, देश की हर पांच में से तीन नदियां प्रदूषित हैं। ज्यादातर ठोस कचरों का निस्तारण नहीं किया जाता; यहां तक कि देश के समृद्ध हिस्सों में भी नहीं। मुंबई में 90 फीसदी, तो दिल्ली में 48 फीसदी कचरों का निस्तारण नहीं हो पाता। फिर, देश की तीन-चौथाई आबादी उन हिस्सों में बसती है, जहां वायु प्रदूषण (पीएम 2.5 का स्तर) भारत के राष्ट्रीय मानक से अधिक है। जबकि भारत का राष्ट्रीय मानक खुद वैश्विक मानक से चार गुना ज्यादा है। आलम यह है कि देश के कुल 640 जिलों में से उत्तरी हिस्से के 72 जिलों में कार्बन-उत्सर्जन वैश्विक मानक से 10 गुना ज्यादा है। हालिया वैश्विक पर्यावरण गुणवत्ता प्रदर्शन सूचकांक में भी 180 देशों की सूची में हमारा स्थान 177वां है।

यह तस्वीर बुनियादी तौर पर इंसानी स्वास्थ्य से जुड़ी है। खराब आबोहवा, दूषित जल और ठोस कचरे का उचित निपटारा न होना देश के नागरिकों, खासकर बच्चों की सेहत को प्रभावित कर रहे हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन की रिपोर्ट बताती है कि भारत में पांच वर्ष की उम्र पूरी न कर पाने वाले बदनसीब मासूमों में से 10 फीसदी की मौत की वजह वायु प्रदूषण है।

यह दुखद स्थिति दरअसल इस गलत धारणा की वजह से बनी हुई है कि पर्यावरण की गुणवत्ता विलासिता से जुड़ी है। माना जाता है कि प्रदूषण विकास का एक अनिवार्य दुष्प्रभाव है; यानी विकास होगा, तो प्रदूषण बढ़ेगा ही। 1972 में पर्यावरण पर हुए स्टॉकहोम सम्मेलन में तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने कहा था कि 'गरीबी सबसे बड़ा प्रदूषक है'। श्रीमती गांधी के उस बयान को इस रूप में समझा गया कि गरीबी में कमी लाने के लिए पर्यावरण-संरक्षण के साथ समझौता करना पड़ेगा, और भारत को गरीबी के खिलाफ अपनी लड़ाई ही आगे बढ़ानी चाहिए। मगर जैसा कि जयराम रमेश ने अपनी किताब में श्रीमती गांधी की पर्यावरण संबंधी सोच का जिक्र किया है, वह बताता है कि उनके उस बयान के गहरे निहितार्थ थे। उनका मानना था कि गरीबों की जरूरतों को कतई नजरअंदाज नहीं किया जाना चाहिए, मगर उनकी जरूरतें प्रकृति को नुकसान पहुंचाए बिना पूरी की जानी चाहिए। साढ़े चार दशक गुजर चुके हैं, लेकिन भारत का विकास और पर्यावरण की तबाही, दोनों साथ-साथ तेजी से आगे बढ़ रहे हैं।

विकास के काम आज करना और पर्यावरण की चिंता भविष्य पर छोड़ देना कई कारणों से गलत नजरिया है। इसकी पहली वजह तो यही है कि प्रदूषित पर्यावरण सबसे पहले और ज्यादा गरीबों को नुकसान पहुंचाता है। किसानों, मछुआरों और वन्य जीवन पर निर्भर लोगों की आजीविका इससे तुरंत प्रभावित होती है। यही नहीं, अमीरों की तुलना में वे दूषित जल और प्रदूषित हवा की मार से खुद को बचाने में भी काफी अक्षम होते हैं, यानी प्रदूषण गरीबी के असर को और घातक बना देता है।

दूसरा कारण। यह भी संभव नहीं कि पर्यावरण को सेहत के मुफीद बनाने की कोशिशें तब तक टाल दी जाएं, जब तक कि विकास के कार्य पूरे न हो जाएं। अभी हमारा प्रति व्यक्ति सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) चीन का महज एक-तिहाई है, मगर उसकी तुलना में हमारे ज्यादा शहर गंभीर वायु प्रदूषण की चपेट में हैं। तो क्या हम यह चाहते हैं कि चीन की जीडीपी की बराबरी करने तक भारत अधिक प्रदूषित हो जाए? कटु सच्चाई यह है कि प्रदूषण के कई दुष्प्रभाव आसानी से खत्म नहीं होते। पारिस्थितिकी तंत्र यदि एक बार बिगड़ गया, तो वह अपनी मूल स्थिति में नहीं लौट सकता।

तीसरा कारण यह है कि पर्यावरण से जुड़े सुरक्षा-उपायों को भले विकास का अवरोधक माना जाए, लेकिन दोनों का रिश्ता इससे ज्यादा जटिल है। खराब आबोहवा का अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ता है। प्रदूषण की वजह से सार्वजनिक-स्वास्थ्य पर भारी बोझ पड़ सकता है और बीमार पर्यावरण 'पारिस्थितिकीय सेवाओं' से भी हमें वंचित कर सकता है। इससे संसाधनों का भी नुकसान होता है, जिससे गरीबों की आजीविका खत्म होती है। ज्ञान-आधारित अर्थव्यवस्था में भी हाई-स्किल्ड टैलेंट, यानी उच्च मेधाविता शायद ही जहरीले शहरी वातावरण में रहना पसंद करेगी।

और आखिरी वजह, हरियाली की ओर बढ़ना दरअसल विकास के एक ऐसे मार्ग पर चलना है, जहां सभी महासागरों, जलवायु और वनों का खयाल रखा जाता है। आज विश्व अक्षय ऊर्जा क्रांति के दौर से गुजर रहा है। इससे जुड़े मौकों को अपने हित में भुनाने की प्रतिस्पर्धा सभी देशों में है। ऐसे में, 'सर्कुलर इकोनॉमी' (इसमें किसी औद्योगिक प्रक्रिया से निकलने वाला कचरा, दूसरी प्रक्रिया के लिए इनपुट का काम करता है) हमारी दक्षता तो सुधार ही सकती है, पर्यावरण और आर्थिकी को भी पुराना रूप दे सकती है। इसका अर्थ है कि पर्यावरण को बिगाड़ने की बजाय उसे संवारने से विकास के ज्यादा मौके हासिल हो सकेंगे।

सवाल यह है कि जब विरोध के तर्क इतने मजबूत हैं, तो भारत पर्यावरण को नुकसान पहुंचाने वाले विकास की ओर तेजी से क्यों बढ़ रहा है? इसकी पहली वजह तो यह है कि हमें इसकी नाममात्र समझ है कि बेहाल पर्यावरण के आखिर क्या नुकसान हैं और स्वच्छ आबोहवा के आर्थिक व सामाजिक लाभ क्या हैं, खासतौर से गरीबों के लिए? दूसरी, स्वस्थ पर्यावरण अब भी हमारे राजनीतिक एजेंडे का हिस्सा नहीं

बन सका है। इसके लिए लामबंदी यदि होती भी है, तो कुछ खास हलकों में। जैसे, प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर समुदाय, जिन्हें औद्योगिक विकास में दरकिनार किया जा रहा है और कुछ शहरी अभिजात संसाधनों के उपभोग की तुलना में स्वस्थ वातावरण को अधिक प्राथमिकता देने लगे हैं, लेकिन इनकी संख्या काफी कम है। और फिर, पर्यावरण के लिहाज से टिकाऊ विकास के लिए एक ऐसे शासन की दरकार होती है, जिसकी पर्यावरणीय नीति समझदारी से भरी है। मगर अभी तो पर्यावरण से जुड़ी हर समस्या के निदान के लिए हमें अदालती फैसले या किसी प्रशासनिक कार्रवाई का इंतजार करना पड़ता है, जबकि हमें ऐसी सोच की दरकार है, जिसमें व्यवहारगत बदलाव और तकनीकी समाधान तो हो ही, प्रभावी नियमन भी शामिल हो।

स्कूली शिक्षा से कब होगी तनाव की छुट्टी

सूर्यकांत द्विवेदी स्थानीय संपादक, हिन्दुस्तान, मुरादाबाद

देश में अलग-अलग कुंभ चल रहे हैं। प्रयागराज में धार्मिक कुंभ जारी है। चुनावी कुंभ का बिगुल बजने ही वाला है। परीक्षा का कुंभ अभी-अभी शुरू हुआ है। तनाव इन तीनों ही कुंभ को लेकर है। कुंभ कैसा होगा, कितने लोग स्नान करेंगे, यह अलग तरह का तनाव था। चुनावी बिगुल के साथ एक अलग सा तनाव है कि किसकी सरकार बनेगी? हम जिस तीसरे कुंभ की बात कर रहे हैं, वह परीक्षा का कुंभ है। चुनाव के कारण सभी बोर्ड की परीक्षाएं इस बार जल्द शुरू हो रही हैं। अजीब सा तनाव परीक्षार्थियों के चेहरे पर है। हाईस्कूल के बच्चों में कुछ ज्यादा ही है। इस तनाव से मुक्ति का अभी तक हम कोई समाधान नहीं खोज पाए हैं। सवाल यह भी है कि परीक्षा के समय ही तनाव क्यों? बच्चों को आखिर कब इससे मुक्ति मिलेगी ?

यह बात अलग है कि हम तनाव से बच नहीं सकते। तनाव से बचा भी नहीं जा सकता। काल और परिस्थिति के मुताबिक तनाव कम या ज्यादा होता रहता है। लेकिन जब बात परीक्षा की हो, तो तनाव पर चिंतन करना जरूरी हो जाता है। जब हम हाईस्कूल में होते थे, तब सोशल मीडिया का दौर नहीं था। कहीं भी कोई कोचिंग नहीं होती थी। घर में एक अलग तरह का हौआ हुआ करता था। कप्रयू-सा लग जाता था। बच्चे पर कई प्रतिबंध नाजिल हो जाते थे- यह मत करो, अब मत खेलो, फेल होंगे क्या...आदि आदि। चूंकि हाईस्कूल बोर्ड परीक्षा का पहला बड़ा पड़ाव होता था, इसलिए तनाव स्वाभाविक रूप से हावी रहता था। साठ और सत्तर के दशक के परीक्षार्थी जानते होंगे कि हाईस्कूल की परीक्षा का वातावरण क्या होता था?

तुलनात्मक दृष्टि से आज परीक्षा का उतना फोबिया नहीं है, जैसा पहले था। इसके कारण हैं। पहले फेल परीक्षार्थियों की संख्या अधिक होती थी, अब नहीं है। जो बिल्कुल ही कुछ न करे, वही फेल होता है। मार्किंग सिस्टम काफी हद तक सुधरा है। पहले 70-78 फीसदी पर बच्चा टॉपर हो जाया करता था। अब 99-100 फीसदी तक मार्किंग होने लगी है। परीक्षा प्रणाली में आमूल-चूल परिवर्तनों से परीक्षा का ढांचा बदल गया है। अब वस्तुनिष्ठ प्रश्नों का दौर है, सवाल कम हैं, कोचिंग के बहुविकल्प खुले हैं। घर से लेकर स्कूल और सोशल मीडिया तक बच्चों को सीखने के पर्याप्त अवसर उपलब्ध हैं। इतना सब होने के बावजूद तनाव क्यों है?

देश भर की परीक्षा समितियां छात्रों के भविष्य पर जब-तब मंथन करती रही हैं। मंथन के मोती किस सागर में गायब हो गए, यह कहा नहीं जा सकता। लेकिन इतना तय है कि परीक्षागत तनाव से मुक्ति तमाम सुधारवादी दृष्टिकोणों, माक्र्स मॉडुरेशन (अनुकूलन), यानी परीक्षा में छात्रों को एक समान अंक देने और ग्रेड सिस्टम लागू करने के बावजूद यथावत है। हम महसूस तो करते हैं कि तनाव कम हुआ है, लेकिन यह बात बच्चों पर लागू नहीं होती। विश्वविद्यालय की परीक्षाओं में हम फोबिया जैसे शब्द नहीं सुनते। वहां तनाव कहां चला जाता है? सारा तनाव का केंद्र-बिंदु हाईस्कूल और इंटरमीडिएट की परीक्षा ही क्यों? इसके पीछे जो कारण नजर आते हैं, उनमें सबसे बड़ा यह है कि शिक्षक से लेकर अभिभावक तक मानसिक और मनोवैज्ञानिक रूप से खुद को तैयार नहीं कर पाते। वे अपने बच्चे से ज्यादा कर दिखाने की उम्मीद करते हैं।

क्यों हम सीबीएसई या आईसीएसई की तुलना अपने राज्य के बोर्ड से करते हैं? कहीं न कहीं हमारे अंदर श्रेष्ठता और पिछड़ेपन का भाव छिपा होता है। अब राज्य स्तरीय बोर्डों ने भी अपनी स्थिति को सुधारा है। नंबर देने में उदारता बरती है। नकल के ठेके पर रोक लगाई है। परीक्षा केंद्रों में सीसीटीवी कैमरे लगाए जा रहे हैं, क्योंकि हम यह मानते हैं कि नकल माफिया कभी भी, कहीं भी दस्तक दे सकते हैं। परीक्षार्थी किसी भी बोर्ड का क्यों न हो, तनाव उसको सालता है। क्या हमारे स्कूल, पूरे साल मनोवैज्ञानिक तरीके से समाधान नहीं कर सकते। परीक्षा के लिए बच्चों को तैयार नहीं कर सकते। जरूरी यह भी है कि हम एक समान परीक्षा प्रणाली बनाएं, ताकि परीक्षार्थियों को परीक्षा के हिसाब से देखा जाए, न कि उनके जीवन-स्तर, स्कूल और परीक्षा बोर्ड के आधार पर।